सामाजिक न्याय

संकलन

('पांचजन्य', 'वन बन्धु' और 'सेवा-समर्पण' से साभार)

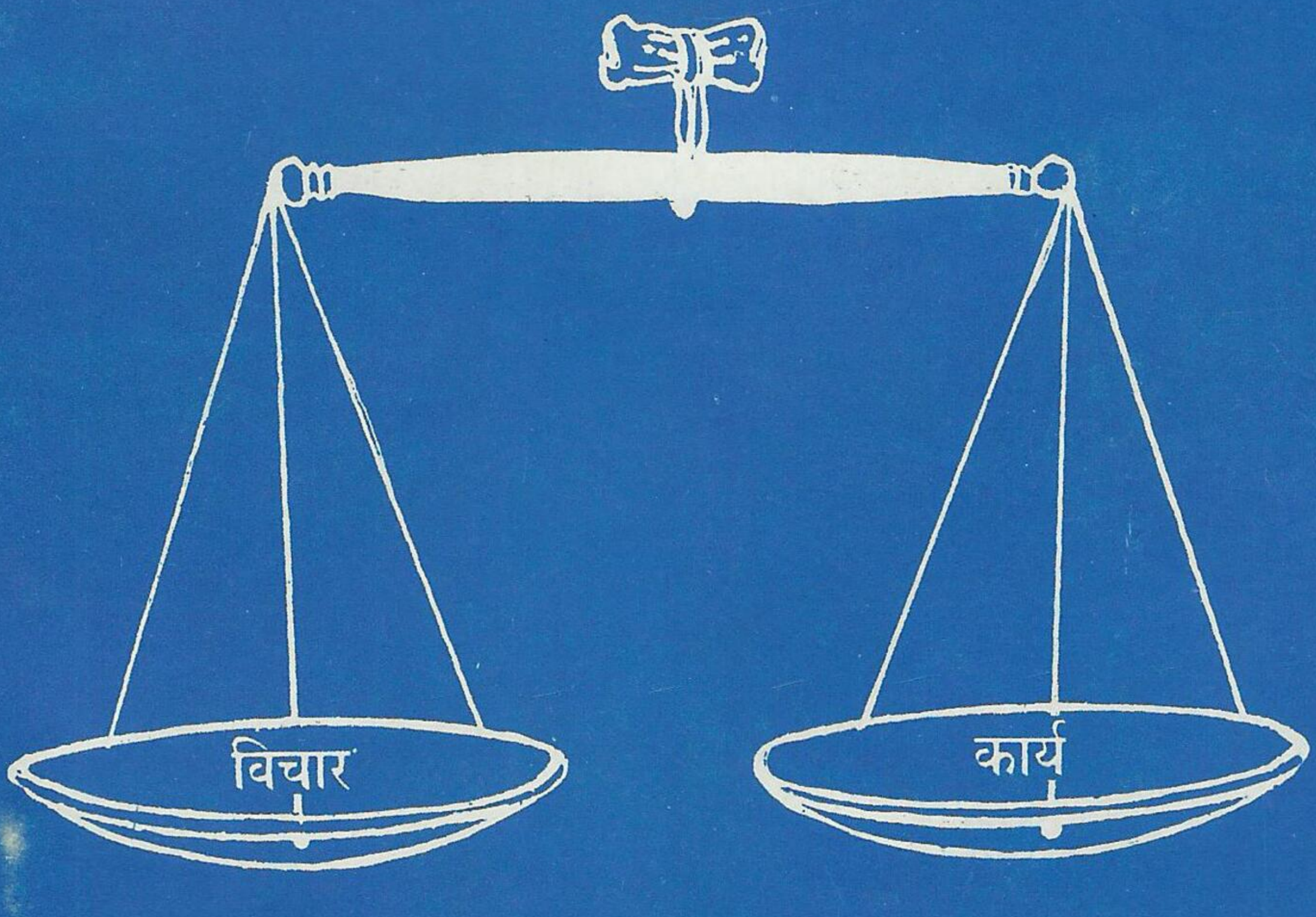

लोकहित प्रकाशन, राजेन्द्र नगर, लखनऊ

सामाजिक न्याय

— संकलन

(पांचजन्य, वनवासी बन्धु, सेवा–समर्पण से साभार)

प्रकाशक :–

लोकहित प्रकाशन
राजेन्द्र नगर, लखनऊ–४

प्रथम संस्करण

'महाशिव रात्रि', १० मार्च, १९९४
सम्वत् २०५०

मूल्य : रु० ५.००

मुद्रक : नूतन आफसेट मुद्रण केन्द्र, लखनऊ –४

हम एकात्म हैं

—दत्तोपंत ठेंगड़ी
संस्थापक—भारतीय मजूदर संघ और भारतीय किसान संघ

आजकल पिछड़े पीड़ित बंधुओं की समस्याएँ सुलझाने और उन पर होने वाले अन्याय समाप्त करने के लिए अनेक वक्तव्य दिए जा रहे हैं, लेख लिखे जा रहे हैं, प्रचार और प्रयत्न चल रहे हैं। किन्तु ऐसा दिखाई दे रहा है कि प्रचार जितना अधिक हो रहा है, समस्या की गंभीरता एवं भीषणता उतनी ही बढ़ रही है। दवा दी जा रही है और रोग बढ़ता जा रहा है। इसका क्या कारण हो सकता है ? कहीं इस प्रश्न की ओर देखने के दृष्टिकोण में कोई त्रुटि तो नहीं है ?

प्रश्न सुलझाने की सद्भावना होते हुए भी किसी प्रश्न पर यदि नकारात्मक भूमिका अपनाई गई तो मूल उद्देश्य के विपरीत परिणाम सामने आते हैं। जाति संस्था अन्यायपूर्ण बन गई हैं, इसलिए उसे मात्र नष्ट करने का प्रयत्न करने वालों की ही एक जाति बन जाती है।

फिर भी, आज की स्थिति में भी कुछ आशादायी बातें होती प्रतीत हो रही हैं। एक यह कि कुछ जीवन–मूल्य आज भी मान्य हैं, जैसे सच्चारित्र्य, सद्गुण, साधना, प्रामाणिकता आदि। स्वयं कालाबाजारी करने वाला भी चाहता है कि उसका मुनीम प्रामाणिक होना चाहिए। छोटी संकीर्ण भावनाओं की लहरों के नीचे आज भी सांस्कृतिक जीवन–मूल्यों के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना प्रवाहित होती दिखाई देती है। यह एक अच्छा लक्षण है। चाहे जितना जातिवाद आदि संकुचित भावना का दौर चला हो, निःस्वार्थ बुद्धि से सम्पूर्ण समाज के प्रति अपनत्व के भाव से निरपेक्ष सेवा करने वाले व्यक्तियों का सम्मान आज भी होता है।

दूसरा आशादायी लक्षण है फूटपरस्ती की मनोभूमिका के होते हुए भी

भिन्न-भिन्न विचार एवं दृष्टिकोण रखने वाले लोग समान संकट या समान समस्या आने पर एकत्रित हो जाते हैं। १९६२ का चीन का आक्रमण, १९६५ एवं १९७१ का भारत-पाकिस्तान युद्ध आदि लहर से प्रभावित रहे। कोई राष्ट्रीय मुद्दा सामने आया ही नहीं। राष्ट्रीय विषयों में आर्थिक नीति विशेष महत्व रखती है। यह चित्र स्पष्ट रूप से उजागर नहीं हुआ कि कांग्रेस सरकार ने जो नई आर्थिक नीति अपनाई है उससे उपेक्षित लोगों का वास्तव में कल्याण होगा कि नहीं ? अमीर-गरीब की खाई पटेगी, कि नहीं ? इस देश के करीब पांच करोड़ बेरोजगारों को काम मिलेगा कि नहीं ? ये सारे सवाल अनुत्तरित ही रहे हैं। अतः लोकमत इस विषय पर बनेगा कि राज्य सरकारें स्थानीय जनता की समस्याओं के निराकरण कहाँ तक करती हैं। स्थानीय आकांक्षाओं की परिपूर्ति न हुई तो आर्थिक नीति कैसी भी हो, वह पार्टी चुनाव में विजयी होगी ही, यह कहना संभव नहीं। अतः अखिल भारतीय दल, राज्य स्तर पर अपनी नीतियों को कारगर ढंग से कार्यान्वित करने में कहां तक सफल होंगे, उनके चुनावी भविष्य निर्धारित करेंगी। साथ ही पार्टी का, जनता से संबंध अटूट रहना चाहिए। मध्य प्रदेश में भाजपा सरकार ने कई अच्छे काम किए, फिर भी उसके जन-सम्पर्क में त्रुटियां रहने के कारण उसे असफलता का सामना करना पड़ा।

हिमाचल प्रदेश में भाजपा सरकार के खिलाफ असंतोष की जो बात कही जाती है वह तात्कालिक क्षोभ मानना चाहिए। नई कांग्रेस सरकार ने कर्मचारियों के लिए जो रियायतें घोषित कीं, वहीं उसके लिए विपरीत उन्मादी हो सकती हैं। सरकारी कामकाज विषयों के मुताबिक होता है। उन्हीं को ताक पर रख दिया तो उसके दूरगामी परिणाम घातक ही होंगे। लोकतांत्रिक ढांचा ही डांवाडोल हो जाएगा। संयुक्त संसदीय समिति द्वारा दोषी पाए गए, मंत्री बने रहने पर सरकार भले ही टिक जाए किन्तु याद रहे कि इस देश का नवयुवक उन्हें मन ही मन कोसता रहेगा। बेरोजगार युवक उग्रवाद का सहारा लें तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

नई पीढ़ी के लिए चुनौती

मैं तो कहूंगा, नई पीढ़ी के लिए यह एक चुनौती ही है। उन्हें चाहिए कि वे लोकतंत्र की मर्यादा में अपनी आवाज बुलंद करें और सत्ताधारियों को सबक

सिखाएँ।

जहां तक वामपंथी पार्टियों का सवाल है वे अपनी सैद्धांतिक लड़ाई तो हार चुके हैं। वास्तव में सर्वहारा को क्रांतिदूत मानकर उन्हें संगठित करने वाली वामपंथी पार्टियाँ अनुसूचित जातियों में अपने पैर नहीं जमा पायीं। क्यों ? क्या अनुसूचित जातियाँ सर्वहारा नहीं ? तो फिर साम्यवादी वहाँ प्रवेश क्यों नहीं कर पाए ? इसलिए क्योंकि डा० अम्बेडकर ने सामाजिक उत्क्रांति के लिए धर्म का अधिष्ठान अनिवार्य माना था। साम्यवादियों के धर्मविरोधी होने से अनुसूचित जातियों ने उन्हें नहीं अपनाया।

मुसलमानों को चाहिए कि वे उन पर लादा गया 'वोट बैंक' का सिक्का अब उखाड़ कर फेंक दें। वोट बैंक बनकर मुसलमानों का क्या लाभ हुआ ? शिक्षा, रोजगार, जीवनसार सभी मामलों मे तो वे पीछे ही रहे। जाहिर है कि वोट बैंक बनने से उनका कोई हित नहीं हुआ और आगे भी नहीं होगा। मैं सुझाव दूंगा कि सामाजिक समरसता अभियान में मुसलमानों को भी शामिल कर लिया जाए। उन्हें राष्ट्रीय धारा में लाने का यह एक सोपान सिद्ध होगा। मुसलमानों का अलग-थलग रहना उनकी उन्नति में बाधक है।

सामाजिक समरसता के लिए कट्टरता को त्यागना होगा। समरसता समता पर निर्भर करती है। सामाजिक समरसता लाने के लिए रूढ़िगत विचार घर की चार दीवारी में बंद रख, सामाजिक जीवन में सम्पूर्ण निरपेक्षता का भाव रखना नितांत जरूरी है। एक दूसरे को पहचानना आवश्यक है। समाज जीवन में दिमाग से काम लेना चाहिए। मिसाल के तौर पर, नारी की ही बात लें। धर्म कुछ भी कहे, नारी तो नारी ही हैं। मजहब बदलने से उसके स्त्रीत्व में कोई फर्क नहीं पड़ता। अतः समाज जीवन में स्त्री की ओर देखने का नजरिया समान ही होना चाहिए।

कांशीराम की सफलता को यदि वक्तृता दृष्टि से न देखा जाए, तो मेरे जैसे लोगों की राय में उपेक्षित एवं दलितों की एकजुटता के माध्यम से सत्ता में आना सामाजिक समरसता निर्माण करने का पहला कदम है। अपनी इस भूमिका में उन्होंने ही कुछ विकृति पैदा की तो वे स्वयं समरसता में बाधक बनेंगे।

भविष्य में जब तक मुसलमानों का वोट बैंक बना रहेगा, राजनीतिक सत्ता

का संतुलन दलित–मुसलमानों पर निर्भर करेगा किन्तु मैं नहीं मानता कि मुसलमानों का राष्ट्रीय धारा में सम्मिलित होना गलत है। सामाजिक उत्क्रांति के लिए निरन्तर और हृदय से प्रयास करने पड़ेंगे। चुनावी सफलता का विचार छोड़ कर इस दिशा में कार्यरत होना चाहिए। तभी सफलता हासिल होगी। सामाजिक उत्क्रांति को चुनाव तंत्र से नहीं जोड़ना चाहिए।

जातिवाद, अल्पसंख्यकवाद को मिटाने के लिए कृतसंकल्प शक्तियां, चुनावों में सफल न भी हों तो कोई बात नहीं। भले ही कार्यसिद्धि के लिए २५–५० वर्ष लग जाए। राष्ट्र के जीवन में यह अवधि नगण्य है। मैं निराशावादी नहीं। युवकों पर मुझे पूरा विश्वास है। देश का भविष्य युवकों पर ही निर्भर है। युवाओं में सामाजिक, राजनीतिक विकृतियों के निर्मूलन की यथेष्ट शक्ति है। आवश्यकता है ध्येयनिष्ठ राजनीतिक एवं सामाजिक तत्व युवा वर्ग से करीबी रिश्ता स्थापित करें। दुःख तो इस बात का है कि हर कोई अपने राजनीतिक एवं सामाजिक संसार में निमग्न है।

समान प्रश्न के समय समस्त मतभेद भुलाकर सम्पूर्ण जनता कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी हो गई थी। यह जाग्रति तथा एकता यद्यपि तात्कालिक एवं अल्पजीवी रही, किन्तु इसमें यह तथ्य स्पष्ट होता है कि समान विषय को लेकर संगठित होने की संभावना अपने समाज में विद्यमान है और यह भी एक शुभ लक्षण है। अतः यह सोचने की बात है कि ऐसा कौन–सा समान विषय और समान उद्देश्य है जो अपने समाज के सामने स्थायी रूप से प्रस्तुत किया जाए जिसके महत्व को मसझते हुए संकीर्णता, भेदभाव और विद्वेष से ऊपर उठकर सभी लोगों में एकता तथा संगठन की प्रेरणा जागृत हो सके। अपने देश की राष्ट्रीयता के सूत्र को कमजोर करने के लिए विदेशियों ने तरह–तरह के संभ्रम पैदा किए। जैसे आर्य भारत में बाहर से आए, वेद मात्र ब्राह्मणों का साहित्य है आदि। डा० बाबा साहब अम्बेडकर ने स्वयं अपने सप्रमाण तर्क द्वारा इन भ्रमों को दूर करते हुए कहा है कि– 'आर्य शब्द जातिवाचक नहीं, मात्र गुणदर्शक है।' वेदों की रचना में सभी वर्गों का योगदान है, यहां तक कि गायत्री जैसा श्रेष्ठ मंत्र ऋषि विश्वामित्र ने सिद्ध किया है, जो ब्राह्मण नहीं थे। 'उन्होंने आगे कहा कि– 'वेदकाल में अस्पृश्यता नहीं थी। सभी वर्णों के लिए समान नियम थे। यदि कोई सामाजिक अपराध करता था

तो उसका कुछ दिन के लिए बहिष्कार कर दिया जाता था। चाहे यह ब्राह्मण ही क्यों न हो।' यह विवरण प्रमाणित करते हुए डा० अम्बेडकर ने लिखा है कि, 'सम्राट चन्द्रगुप्त के कालखण्ड में किसी समय अस्पृश्यता की रूढ़ि प्रारम्भ हुई, जिसका कारण विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं में निहित है। किन्तु उसके कारण एक राष्ट्रीयत्व की मौलिक भूमिका में आज भी कोई कमी आने देना उचित नहीं है।'

डाक्टर अम्बेडकर की मान्यता थी कि– 'हम सभी अपने इस राष्ट्र के अंग–उपांग हैं, इसके हित को हम ठीक प्रकार से पहचानें।' राष्ट्रीयत्व के सम्बंध में उनकी भूमिका दृढ़ एवं विशुद्ध थी। उनका यह आग्रह था कि विगत कुछ शताब्दियों की कुरीति एवं रूढ़ियों के कारण पिछड़े हुए बंधुओं पर हुए अन्याय का निराकरण करने के लिए समाज को आगे आना होगा, इस हेतु आंदोलन छेड़ने होंगे, किन्तु एकराष्ट्रीयता की कीमत पर नहीं।'

रोग का निदान ढूंढ़ें

अस्पृश्यता कैसे प्रारम्भ हुई, कब हुई, किसने प्रारम्भ की, किन जातियों ने इसे बढ़ाया, इन बातों पर चर्चा और विश्लेषण होता रहता है। रोग के उचित निदान के लिए यह आवश्यक भी है। किन्तु इसके साथ ही इलाज के बारे में भी सोचा जाना चाहिए। आज की बदलती हुई सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति में मात्र नकारात्मक चर्चा असंगत है। इसका परिणाम अस्पृश्यता एवं गरीबी की समस्या पर क्या होगा, इस पर गहराई से विचार होना चाहिए। शहरों में आज नये–नये और बड़े–बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भिन्न–भिन्न जातियों के, सभी छोटे–बड़े स्थानों से सभी प्रकार के लोग एकत्रित होते हैं, एक जगह काम करते हैं, कैन्टीन में चाय पीते समय सभी के साथ घुलमिल जाते हैं, अपने गांव लौटने पर जात–पांत मानने लगते हैं, किन्तु शहर की उधेड़बुन में भूले रहते हैं।

तंत्रशास्त्र बदलने के साथ–साथ नयी रचना आ रही है। सामूहिक भावना और एकता के नये अर्थ और आयाम सामने आ रहे हैं। समान हित संबंध उत्पन्न हो रहे हैं। इन परिवर्तनों की ओर ध्यान देकर नई परिस्थितियों का अध्ययन न करते हुए 'मनुस्मृति की होली जलाएं या उसकी पूजा करें' के वाद–विवाद में

बुद्धिनिष्ठ लोग यदि उलझे रहें तो उनकी यह चर्चा असंगत होगी। प्रथम औद्योगिक क्रांति के कारण तंत्रशास्त्र एवं उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन आया। उसमें जो नया 'तज्ञ वर्ग' निर्माण हुआ, उसके संदर्भ में मार्क्स का पूर्व विश्लेषण काल-बाह्य हो गया। अतएव 'जातिभेद नष्ट करो' का नारा लगाते रहने के बदले बदलती हुई समाज रचना में कौन से नये शुभ लक्षण उत्पन्न हो रहे हैं, उनका अध्ययन करके समाज में एकात्मता लाने हेतु कौन से समान उद्देश्यों की नये सिरे में प्रतिष्ठापना की जाए, इस पर विचार करना पीड़ित एवं पिछड़े हुए बंधुओं की समस्याएँ सुलझाने के लिए आवश्यक होगा तथा नया जनसंगठन, नया एकात्मभाव, नयी अपनत्व की जागृति किस आधार पर करना, इसका स्पष्ट विचार करने से ही मार्ग प्रशस्त होगा।

१९३५ के भारतीय कानून के प्रावधान जातिवाद, प्रान्तवाद आदि को बढ़ावा देते हैं। राजनीति में चुनावों की वर्तमान प्रक्रिया भी इन भेदों को प्रोत्साहन देती है। एकात्म समाज-शक्ति के निर्माण में यह बड़ा भारी व्यवधान है। इस विषय पर दूरदृष्टि से सोचना होगा। रचनात्मक विचार करना होगा, चुनावी राजनीति से ऊपर उठकर समाजहित की स्थायी भूमिका अपने सामने रखनी होगी, प्रारम्भ में बताए गए कुछ लक्षण इस कार्य में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

इस दृष्टि से डाक्टर अम्बेडकर जी का स्मरण फिर एक बार आता है। मेरा सौभाग्य है कि मुझे उन्हें केवल निकट से देखने का ही नहीं, उनसे प्रत्यक्ष वार्तालाप एवं विचार-विनिमय का भी अवसर मिला, जिसमें विशुद्ध राष्ट्रीय एवं रचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय प्रचुर मात्रा में मिला था। बौद्धमत को स्वीकार करने के कुछ दिन पूर्व मैंने उनसे पूछा, 'अतीत में अस्पृश्यता एवं अन्य कई प्रकार से अन्याय और अत्याचार हुए, किन्तु आज हम कुछ युवक उन दोषों को दूर करते हुए एक स्वस्थ समाज रचना खड़ी करने के लिए प्रयत्नशील है, इस बात की ओर क्या आपका ध्यान आकृष्ट हुआ है ?'

उन्होंने कहा, 'तुम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बात कर रहे हो न ?' उन्हें मालूम था कि मैं संघ प्रचारक हूं। उन्होंने कहा, 'तुमको ऐसा लगता है कि मैंने इस पर कुछ भी नहीं सोचा होगा ?'

मैंने कहा, 'मुझे ऐसा नहीं लगता।'

'फिर बताओं', वे बोले, '१९२५ में तुम्हारा संघ प्रारम्भ हुआ। आज सत्ताईस–अट्ठाईस वर्ष बाद तुम्हारी संख्या मान लो, सत्ताईस–अट्ठाईस लाख होगी। इस हिसाब से इस विशाल समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए कितना समय लगेगा ? मैं जानता हूं कि रेखागणितीय प्रगति का हिसाब अलग होता है, पर फिर भी बहुत समय लगेगा। तब तक परिस्थिति रुकने वाली नहीं है। और मैं भी तब तक कहां रहूंगा ? मेरे सामने एक मुख्य प्रश्न है कि मेरे जाने के पहले मेरे समाज को कुछ निश्चित दिशा देने की।'

'मेरे लोग आज तक दलित, पीड़ित, शोषित रहे हैं अब उनमें कुछ जागृति आ रही है, जिसके कारण कुछ आक्रोश और जोश होना स्वाभाविक है। इस प्रकार के लोग बहुत जल्दी कम्युनिज्म का भक्ष्य बन सकते हैं। किन्तु मैं नहीं चाहता कि मेरा समाज (अनुसूचित जातियां) कम्युनिज्म का शिकार बने। अपने राष्ट्र की दृष्टि से मुझे उन्हें मार्ग दिखाना होगा। आप लोग भी संघ के द्वारा राष्ट्रहित में प्रयास कर रहे हैं। फिर भी मैं समझता हूं कि यदि मैंने अपने लोगों को दिशा नहीं दी और यदि वे कम्युनिज्म की ओर मुड़ गए, तो शायद तुम लोग उन्हें राष्ट्रीयधारा में फिर से नहीं ला पाओगे। क्योंकि सही–गलत का सवाल ही नहीं, तुम कह रहे हो इसलिए तब मेरे लोग तुम्हारी बात शायद सुनेंगे नहीं। अतएव जाने के पहले मुझे सारी व्यवस्था करनी है। याद रखो, दलित लोगों और कम्युनिज्म के बीच अम्बेडकर एक अवरोध बनकर खड़ा है और सवर्ण हिन्दुओं और कम्युनिज्म के बीच गोलवलकर भी अवरोध के रूप में खड़े हैं।'

यह सम्पूर्ण बातचीत शब्दशः मैंने इसलिए यहां पर उद्धृत की है कि दलित, पीड़ित, शोषित बंधुओं की समस्याओं और उन पर हुए अन्याय–अत्याचारों के बारे में पूरी आत्मीयता से (उपकारकर्ता की दृष्टि से नही) विचार करते हुए उसका राष्ट्रीय हल कैसे निकाला जाए ? यह सारा विचार करते हुए अन्त में डाक्टर अम्बेडकर जी ने भिन्न–भिन्न प्रलोभनों को ठुकरा कर यह दुरदर्शी कदम उठाया कि बौद्धमत भारतीय होने के कारण उसे अपनाने से अपने समाज की राष्ट्रीयता को आघात नहीं पहुंचेगा। इसी प्रकार की रचनात्मक भूमिका की आज आवश्यकता है।

उद्देश्य-राष्ट्र का पुनर्निर्माण

समस्त संसार का यह अनुभव है कि 'उच्च ध्येय' सामने होने पर छोटे-छोटे विभेद समाप्त हो जाते हैं। **प्रेम के आधार पर ही पीड़ित बंधुओं की पीड़ा दूर की जा सकेगी। हमारा राष्ट्र सनातन है। प्रगति-अवनति, सुख-दुःख के कई दौर हमने झेले हैं, फिर भी राष्ट्ररूप में हम विद्यमान हैं। संकटों से नष्ट होने के लिए इस राष्ट्र का निर्माण हुआ ही नहीं। यदि हम समझदारी से काम लें, व्यक्तिवाद एवं स्वार्थ पर अंकुश लगाएं तो परम वैभव के सुदिन शीघ्र प्राप्त हो सकते हैं।** अपने राष्ट्र में वह आंतरिक क्षमता है जो सभी कठिनाईयों एवं विघटनकारी शक्तियों पर बिजय प्राप्त करके फिर से एकात्मता स्थापित कर सकती है।

विगत ४० वर्षों से औद्योगिक अशांति के लिए श्रमिक वर्ग को सर्वथा दोषी मानना एक फैशन बन गया है। पर यह कभी नहीं माना गया कि निजी क्षेत्र के व्यवस्थापक और सार्वजनिक क्षेत्र के अफसर साधारणतः श्रमिकों के मनोविज्ञान को सही प्रकार से समझ नहीं पाते। राष्ट्रीय-नीति, योजनाएँ तथा श्रमिकों से संबंधित उद्योग-नीति निर्धारण करते समय न तो उनके विचार जाने जाते हैं, न ही उनका विश्वास प्राप्त किया जाता है। फिर भी उनसे सरकार एवं व्यवस्थापकों के साथ निष्ठापूर्ण सहयोग करने की अपेक्षा सदैव की जाती है। विश्वास देने से विश्वास प्राप्त होता है, किन्तु श्रमिकों और पिछड़े बंधुओं के प्रति सरकार द्वारा अविश्वास की भावना के कारण मेहनतकशों में स्वाभाविक आक्रोश पनपता गया। यह उचित नहीं है कि अन्य लोग तो राष्ट्र के प्रति अपना दायित्य पूरा न करें और मात्र श्रमिकों को देश के लिए त्याग करने की सीख दें। आज का श्रमिक बड़ी सावधानी से यह जानना चाहता है कि उद्योगपति, सरकार एवं प्रबंधक उसके प्रति प्रामाणिक सद्भावना रखते हैं कि नहीं। और यदि उसे उसकी झलक मिले तो वह निश्चय ही राष्ट्रीय नेताओं तथा सरकार के आवाहन का योग्य प्रतिसाद देगा।

श्रमिक यह भी जानना चाहेगा कि क्या नियोजक एवं उद्योगपति सभी श्रमिक कानूनों का कारगर रूप से पालन करेंगे ? द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय समझौतों तथा बोर्ड के अनुबंधों को बिना विलम्ब या संशोधन के स्वीकार करेंगे ? क्या

अनैतिक एवं गैर कानूनी श्रम–सौदेबाजी को निरुत्साहित करेंगे ? क्या स्वैच्छिक समझौते की भावना से प्रेरित उदार तथा सरल श्रम–नीति अपनाएंगे ?

यह चिन्ता का विषय है कि बहुसंख्या कर्मचारियों एवं श्रमिकों में (जो संगठित नहीं है या जो संगठित हैं उनमें भी) आज असुरक्षा की भावना व्याप्त है। देश के एक बहुत बड़े श्रमिक तबके को आज भी कानून श्रमिक की परिभाषा में मान्यता प्राप्त नहीं है। औद्योगिक सुरक्षाबल, सेना और पुलिस विभाग, धार्मिक संस्थाओं, विदेश सेवा की अनुबंधित सेवाओं और ठेकेदारों के कर्मचारियों की समस्याएं यथावत विद्यमान हैं। दैनिक मजदूरों का शोषण पूर्ववत जारी है। नियोजित एवं संगठित प्रयास के अभाव में ये सभी प्रश्न कठिन होते जा रहे हैं। यदि हम पूर्ण ईमानदारी से राष्ट्रीय निर्माण में भागीदार होना चाहते हैं तो इन समस्याओं के निराकरण हेतु एक नई विचारधारा का निर्माण करना होगा और इस संबंध में एक नया दृष्टिकोण अपनाना होगा।

हमारा मौलिक उद्देश्य समस्याओं को हल करना मात्र नहीं वरन् राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना है। आज के मजदूर क्षेत्र का अध्ययन करने पर दिखाई देगा कि सर्वसाधारण मजदूरों का कोई भी सर्वमान्य नेतृत्व या संगठन नहीं है। अलग–अलग टुकड़ों में बंटा हुआ नेतृत्व कमजोर होता जा रहा है और एक नई प्रवृत्ति उभर रही है जिससे प्रस्थापित श्रद्धाओं को धक्का पहुंच रहा है। पहले कहीं न कहीं कुछ श्रद्धा थी, किन्तु अब सर्वसाधारण मनुष्य संदेहवादी बनता जा रहा है। हर एक व्यक्ति के बारे में, हर एक दल के विषय में, हर एक घटना के संबंध में अश्रद्धा एवं संदेह का भाव लोगों के मन में पनप रहा है। अश्रद्धा, छूत की बीमारी के समान होती है। यदि पुरानी श्रद्धा टूट जाए, जिनके बारे में पहले श्रद्धा थी, वह वास्तव में श्रद्धा योग्य नहीं रह गया, यदि ऐसा लगने लगे तो केवल उस व्यक्ति या संस्था के बारे में ही मनुष्य की श्रद्धा समाप्त नहीं होती, बल्कि सबके बारे में भी अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। मैं समझता हूं देश के लिए यह सबसे बड़े खतरे की बात है।

इस दृष्टि से हम मजदूर और पिछड़े बंधुओं के संगठन को न राजनीतिक संगठन प्रणाली मानते हैं और न मात्र आर्थिक संगठन पद्धति। हम किसी भी राजनीतिक दल के अंग के रूप में काम नहीं करते और न केवल रोटी की समस्या का समाधान करना हमारा एकमेव लक्ष्य है। हिन्दुस्थान के ४० से ६० प्रतिशत

लोग जीवन–रेखा के नीचे हैं, उन्हें खाने के दो समय की रोटी नहीं मिलती, उन्हें राहत कैसे पहुंचाई जाए, उनको न्यूनतम वेतन और आवश्यक सुविधाएं कैसे प्राप्त हों आदि प्रमुख प्रयत्न हमारे सामने अवश्य हैं, किन्तु मूल बात यह हैं कि यह हमारा राष्ट्र है। इसे हम समृद्ध, सम्पन्न और बलशाली बनाएंगे। हम प्रयास करेंगे कि दुनिया में हमारा राष्ट्र प्रथम स्थान पर पहुंचे। कभी कोई रूस को क्रमांक एक तो कभी कोई अमरीका को क्रमांक एक का राष्ट्र मानते हैं और हमारे नेता उनके चक्कर काटते रहते हैं। यह स्थिति बदलकर दुनिया के किसी भी राष्ट्र को ऐसा कुछ भी करना हो कि जिसका असर जागतिक परिस्थिति पर हो सकता है तो उन्हें पहले इसकी चिन्ता करनी पड़े कि भारत को इस विषय पर क्या कहना है, संसार का नेतृत्व करने वाले इस प्रकार के भारतवर्ष का निर्माण करना है।

एक ओर राष्ट्र के पीड़ित और उपेक्षित समाज का उद्धार करना, उनकी भौतिक समृद्धि का निर्माण करना, शिक्षा की दृष्टि से उन्हें आगे बढ़ाने का काम करना है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर संसार का नेतृत्व करने की उनकी क्षमता भी बढ़ानी है। जिस शरीर का आधा हिस्सा पंगु हो, लूला हो, वह शरीर बलशाली कैसे बनेगा ? जिस राष्ट्र का ६० प्रतिशत शरीर पीड़ित है, कंगाली की रेखा के नीचे है, वह राष्ट्र केवल १० प्रतिशत पूंजीपतियों और विद्वानों के सहारे संसार में अग्रणी नहीं हो सकता। अतएव शोषित, पीड़ित, पिछड़े बंधुओं के प्रति आत्मीयता एवं राष्ट्रीय आकांक्षा दोनों हमारी मौलिक प्रेरणाएं हैं।

पीड़ित बंधुओं की समस्याओं एवं मजदूरों की स्थिति पर विचार करते समय हम उनकी मांगों के साथ–साथ उनके कर्तव्यों का भी विचार करते हैं। जब कभी भी समाज पर संकट आया है तो हमारे राष्ट्रवादी कार्यकर्ता सम्पूर्ण समाज को साथ लेकर और अपना स्वार्थ भूलकर राष्ट्रकार्य के लिए अग्रसर होते रहे हैं। १९६२ के चीन के आक्रमण के समय, १९६५ के पाकिस्तान के संघर्ष के समय, १९७१ में बंगलादेश की लड़ाई के समय, १९७५–७६ में आन्तरिक आपातकाल के समय खतरा उठाते हुए भी साहस के साथ समयोचित कार्य करते रहे। कई लोग यह पूछते हैं कि जब आपकी राजनीति संगठन प्रणाली नहीं है तो आपने ये सारे काम क्यों किए ? इसका उत्तर यह है कि यह ठीक है कि हम राजनीतिक नहीं हैं,

किन्तु हम राष्ट्रनीतिक एवं लोकनीतिक हैं। राष्ट्रनीति हमारा स्वभाव है। राष्ट्र के पुनर्निर्माण का जो बृहत प्रयास चल रहा है, पीड़ित, पिछड़े किसान, मजदूर आदि के हित का कार्य करना इस प्रयास का एक अविभाज्य अंग है। यह मोर्चा संभालना हमारा कर्तव्य है।

अपने राष्ट्रीय समाज में वनवासी बंधुओं का महत्वूपर्ण स्थान है। वनवासियों को शेष समाज में पृथक करने के लिए अंग्रेजों ने तरह-तरह के प्रयास किए। 'आदिवासी' शब्द रचना भी उसी श्रृंखला की एक कड़ी है। परिणामस्वरूप हम भी वनवासियों को अलग समझने लगे। उनके द्वारा विदेशी साम्राज्य सत्ताओं के खिलाफ किए गए विद्रोह को हमने अपने इतिहास ग्रंथों में समाविष्ट तो किया, किन्तु हम यह भूल गए कि देश में ५० हजार दूरस्थ गांवों में फैले ४२७ वन्य जातियों में बंटे और १५० से अधिक बोलियाँ बोलने वाले हमारे (घुमन्तू जातियों सहित) पाँच करोड़ वनवासी बंधु वास्तव में हमारे ही किसान मजदूर भाई हैं। वे हमसे अलग, पृथक इकाई के रूप में नहीं है। उनकी समस्या हमारी ही समस्या है। उनके प्रति हम उदासीन नहीं रह सकते। अफ्रीका के बाद भारत में ही वनवासियों की संख्या इतनी बढ़ी है। ये गरीब है, निरक्षर हैं, अंधविश्वास तथा रूढ़ियों से ग्रस्त हैं। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग की रपट के अनुसार उनके ऊपर अत्याचार बढ़ रहे हैं। उनकी खून-खराबी, उनकी झोपड़ियाँ जलाने, उनकी महिलाओं पर बलात्कार करने तथा उन्हें वेश्यावृत्ति में ढकेलने की प्रवृत्ति का विस्तार हो रहा है। उनकी बीमारियों और उनके कर्जों की राशि में वृद्धि हो रही है, उनका शोषण अत्यधिक बढ़ रहा है, उनके लिए न्यूनतम आय की व्यवस्था नहीं है। उनके लिए पेयजल की समस्या विकराल रूप धारण कर रही है और वनवासी बंधुओं, मजदूरों की मुक्ति की घोषणा मात्र नाटक बनकर रह गई है। भारत की जो सर्वप्रथम वननीति बनाई गई, वह वनवासी विरोधी थी। सन् १९२७ का कानून उनके अधिकार छीनने वाला था। अंग्रेजों के जमाने में वनवासियों के परम्परागत अधिकारों पर सरकार द्वारा कुठाराघात किया गया। सन् १८०० में मलाबार के सागौन के वृक्षों को काटकर जहाज बनाए गए। तब से रेलवे स्लीपर्स बनाने के लिए दोनों महायुद्धों में सामरिक उपयोग तथा कागज आदि के निर्माण के लिए वनों की लकड़ी अंधाधुंध काटी गई।

स्वतंत्रता के पश्चात् सन् १९५२ में बनाई गई राष्ट्रीय वननीति को क्रियान्वित नहीं किया गया। इस दृष्टि से आवश्यक संशोधन भारत वन कानून में नहीं किए गए। जंगलों को अविवेकपूर्ण ढंग से काटा गया। पहाड़ अपनी नींव छोड़ रहे हैं। प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। वनस्पति सृष्टि तथा प्राणि सृष्टि का विनाश हो रहा है और सबसे बड़ी बात यह हो रही है कि वनवासियों का आश्रय स्थान भी कम होता जा रहा है। पंचवार्षिक योजनाओं के अन्तर्गत कानून तथा संविधान के द्वारा प्राप्त होने वाली सहूलियतें तथा लाभ असली गरीब वनवासियों तक नहीं पहुंचते। दलाल तथा थोड़े प्रगत वनवासी उसे बीच में ही हड़प लेते हैं। योजना आयोग द्वारा वनवासियों के लिए बनाई जाने वाली योजनाएँ वनवासियों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा करके नहीं बनतीं। इस कारण वे अवास्तविक और परिणामशून्य रहती हैं। उनके कल्याण के लिए काम करने वाली स्वयंसेवी संस्थाएँ भी बहुत कम हैं।

सामान्य वनवासी की अवस्था चक्रव्यूह में फंसे हुए अभिमन्यु के समान है। इस चक्रव्यूह में उनको घेरने वाले तत्व हैं। साहूकार, मध्यस्थ दलाल, व्यापारी, ठेकेदार, वनरक्षक, सरकारी अफसर, पुलिस तथा राजनीतिक नेता। नई सभ्यता के प्रभाव से वनवासियों की सामाजिक व्यवस्थाएँ, जिनके कारण ग्रामीण तथा जातीय एकता कायम रहती थी, पुलिस या अदालत के पास जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी, टूट रही है और उसके स्थान पर दूसरी किसी स्वस्थ व्यवस्था का उदय नहीं हो रहा है। उनकी समस्याओं का हल करना हमारा कर्त्तव्य है, क्योंकि वे भी किसान-मजदूर है, हमारे अंग हैं। किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम उनके कर्तव्य को अवश्य स्वीकार करते हैं। रामायणकालीन केवट तथा शबरी, महाभारतकालीन एकलव्य, आधुनिक काल में राणाप्रताप को सहायता देने वाले भील, केरल के पलशी राजा के सहायक कुरूचिअर, वन्य जाति के नेता चंदु तथा नीली, रोहतासगढ़ पर औरंगजेब की आक्रामक सेना को परास्त करने वाली उरांव बीरांगनाएँ, पुराने मध्य प्रदेश में गौड़ लोगों की रानी दुर्गावती, सन् १८५७ के पूर्व ही अंग्रेजी साम्राज्य सत्ता के खिलाफ हथियार उठाने वाले संथाल तथा उनके नेता बाबा तिलका मांझी, पोरस को अपना पूर्वज मानने वाले विद्राही मुण्डा नेता वीरसा भगवान, सन् १९२१-२२ में असहयोग आंदोलन के अन्तर्गत लगानबन्दी आंदोलन करने वाले ताना भक्त आदि वीरों का स्मरण करते ही हमें सहर्ष गर्व का

अनुभव होता है।

राष्ट्रीय मुख्यधारा से वनवासियों को पृथक करने की चेष्टा करने वाले फिजो, आयजक स्व० खयलंग मुईवाह, कहेडाय आदि नेताओं को 'राष्ट्रविद्रोही' कहने में जहां हम संकुचाते नहीं, वहां हम रानी गाईडिलिन्यू, एन० सी० जेलियान, हिपसन राय आदि वनवासी नेताओं तथा 'सेंग खासी' आदि वनवासी संस्थाओं की सराहना भी करते हैं। उनके प्रबल राष्ट्रीय भाव को देखते हुए सराहना करनी भी चाहिए। किसान–मजदूर होने के कारण आर्थिक दृष्टि से वे हमसे अलग नहीं हैं अर्थात् हम एकात्म हैं। अन्य किसान संस्थाओं में यह भाव विद्यमान नहीं है, किन्तु भारतीय किसान संघ में यह भाव जागृत है। हमारा यह निश्चय है कि हम अपने इन अभागे वनवासी किसान–मजदूरों की आर्थिक समस्याएँ हाथ में लेंगे तथा रचनात्मक कार्य द्वारा वनवासियों का जीवन स्तर ऊंचा उठाने का प्रयास करने वाली 'भारतीय वनवासी कल्याण आश्रम' जैसी संस्थाओं को यथाशक्ति सहयोग प्रदान करेंगे।

*